अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

# कॉफ़ी

## मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

मैंने सवाल किया, "आप कॉफ़ी क्यों पीते हैं?"

उन्होंने जवाब दिया, "आप क्यों नहीं पीते?"

"मुझे उसमें सिगार जैसी बू आती है।"

अगर आपका संकेत इसकी सोंधी-सोंधी सुगंध की तरफ़ है तो यह आपकी सूँघन-शक्ति का दोष है।"

हालाँकि उनका संकेत साफ़ तौर पर मेरी नाक की तरफ़ था, फिर भी झगड़ा-फ़साद से बचने की ख़ातिर मैंने कहा,

"थोड़ी देर के लिए यह मान लेता हूँ कि कॉफ़ी में से वाक़ई भीनी-भीनी महक आती है। मगर यह कहाँ की दलील है कि जो चीज़ नाक को पसंद हो वह हलक़ में उंडेल ली जाये। अगर ऐसा ही है तो कॉफ़ी का इत्र क्यों न निकाला जाये ताकि साहित्यिक गोष्ठियों में एक दूसरे के लगाया करें।"

तड़पकर बोले, "साहब! मैं खाने की चीज़ों में दलीलों की दख़ल-अन्दाज़ी मुनासिब नहीं समझता, जब तक कि इस घपले का असल कारण उच्चारण की मजबूरी न हो कॉफ़ी की महक से आनंदित होने के लिए एक प्रशिक्षित व परिष्कृत रसिकता की आवश्यकता है। यही सोंधापन लगी हुई खीर और धुंगारे हुए रायता में होता है।"

मैंने क्षमा याचना की "खुरचन और धुंगार दोनों से मुझे मतली होती है।"

फ़रमाया, "ताज्जुब है! यूपी में तो शोरफ़ा (भद्रजन) बड़ी चाव से खाते हैं।"

"मैंने इसी वजह से भारत छोड़ा।"

चिरांदे होकर कहने लगे, "आप क़ायल हो जाते हैं तो कट-बहसी करने लगते हैं।"

जवाब में अर्ज़ किया, "गर्म मुल्कों में बहस का शुभारम्भ सही मायनों में क़ायल होने के बाद ही होता है। जानबूझकर दिल-दुखाना हमारी अवधारणा के अनुसार पाप है। इसलिए हम अपनी असल राय की अभिव्यक्ति सिर्फ़ नशे और गुस्से की हालत में करते हैं। ख़ैर, यह तो विषयान्तर था, लेकिन अगर यह सच है कि कॉफ़ी स्वादिष्ट होती है तो किसी बच्चे को पिलाकर उसकी सूरत देख लीजिए।"

झल्लाकर बोले, "आप बहस में मासूम बच्चों को क्यों घसीटते हैं?"

मैं भी उलझ गया, "आप हमेशा बच्चों से पहले 'मासूम' शब्द क्यों लगाते हैं, क्या इसका यह मतलब है कि कुछ बच्चे पापी भी होते हैं? ख़ैर, आपको बच्चों पर आपत्ति है तो बिल्ली को लीजिए।"

"बिल्ली ही क्यों बकरी क्यों नहीं?", वे सच-मुच मचलने लगे।

मैंने समझाया बिल्ली इसलिए कि जहाँ तक पीने की चीज़ों का ताल्लुक़ है, बच्चे और बिल्लियाँ बुरे भले की कहीं बेहतर तमीज़ रखते हैं।"

फ़रमाया, "कल को आप यह कहेंगे कि चूँकि बच्चों और बिल्लियों को पक्के गाने पसंद नहीं आ सकते इसलिए वो भी अनर्गल हैं।"

मैंने उन्हें यक़ीन दिलाया, "मैं हर्गिज़ यह नहीं कह सकता। पक्के राग उन्ही की ईजाद हैं। आपने बच्चों का रोना और बिल्लियों का लड़ना..."

बात काटकर बोले, "बहरहाल सांस्कृतिक समस्याओं के हल का नतीजा हम बच्चों और बिल्लियों पर नहीं छोड़ सकते।"

आपको यक़ीन आए या न आए, मगर यह सच है कि जब भी मैंने कॉफ़ी के बारे में जनमत-संग्रह किया उसका अंजाम इसी क़िस्म का हुआ। कॉफ़ी के शौक़ीन मेरे सवाल का जवाब देने की बजाय उल्टी जिरह करने लगते हैं। अब मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कॉफ़ी और क्लासिकी संगीत के बारे में जनमत-संग्रह करना बड़ी मूर्खता है। यह बिल्कुल ऐसी ही अरसिकता है जैसे किसी भले मर्द की आमदनी या सुन्दर स्त्री की उम्र पूछना (उसका मतलब यह नहीं कि भले मर्द की उम्र और सुन्दर स्त्री की आमदनी पूछना ख़तरे से ख़ाली है)। ज़िंदगी में सिर्फ़ एक आदमी मिला जो वाक़ई कॉफ़ी से विमुख था। लेकिन उसकी राय इस लिहाज़ से ज़्यादा ध्यान के लायक़ नहीं कि वह एक मशहूर कॉफ़ी हाऊस का मालिक निकला।

एक साहब तो अपनी पसंद के समर्थन में सिर्फ़ यह कहकर चुप हो गए किः

छुटती नहीं है मुँह से यह कॉफ़ी लगी हुई[1]

मैंने स्पष्टीकरण चाहा तो कहने लगे, "दरअसल यह आदत की बात है। यह कमबख़्त कॉफ़ी भी कहावती चने और डोमनी की तरह एक दफ़ा मुँह से लगने के बाद छुड़ाए नहीं छूटती। है नाँ।"

इस मुक़ाम पर मुझे अपनी अक्षमता को स्वीकार करना पड़ा कि बचपन ही से मेरी सेहत ख़राब और संगत अच्छी रही। इसलिए इन दोनों सुन्दर बलाओं से सुरक्षित रहा।

कुछ मित्र तो इस सवाल से सुलगकर गालियों पर उतर आते हैं। मैं यह नहीं कहता कि वे झूठे इल्ज़ाम लगाते हैं। ईमान की बात है कि झूठे इल्ज़ाम को समझदार आदमी बेहद आत्मविश्वास से हँसकर टाल देता है मगर सच्चे इल्ज़ाम से तन-बदन में आग लग जाती है। इस सिलसिले में जो विरोधाभासी बातें सुननी पड़ती हैं, उनकी दो मिसालें पेश करता हूँ।

एक शुभचिंतक ने मेरी विरक्ति को महरूमी मानते हुए फ़रमायाः

---

[1] ऐ जौक़ देख दुतख़्तरे-रिज़ को न मुँह लगा // छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई (इब्राहीम जौक़);
दुतख़्तरे-रिज़- अंगूर की बेटी अर्थात शराब । (अनु.)

हाय कमबख़्त तूने पी ही नहीं[1]

उनकी ख़िदमत में हलफ़िया अर्ज़ किया कि दरअसल बीसियों गैलन पीने के बाद ही यह सवाल करने की ज़रूरत पेश आई। दूसरे साहब ने ज़रा खुलकर पूछा कि कॉफ़ी से चिढ़ की असल वजह पेट के वो दाग़ (Ulcers) तो नहीं जिनको मैं दो साल से लिए फिर रहा हूँ और जो कॉफ़ी की तेज़ाबियत से जल उठे हैं। और इसके बाद वे मुझे निहायत निदानात्मक दृष्टि से घूरने लगे।

जनमत-संग्रह का परिणाम तो आप देख चुके। अब मुझे अपनी राय पेश करने की अनुमति दीजिए। मेरा ईमान है कि क़ुदरत के कारख़ाने में कोई चीज़ बेकार नहीं। इंसान सोच-विचार की आदत डाले (या सिर्फ़ आदत ही डाल ले) तो हर बुरी चीज़ में कोई न कोई ख़ूबी ज़रूर निकल आती है। मिसाल के तौर पर हुक़्क़ा ही को लीजिए। विश्वसनीय सज्जनों से सुना है कि हुक़्क़ा पीने से चिन्ताएँ पास नहीं फटकतीं। बल्कि मैं तो यह निवेदन करूँगा कि अगर तंबाकू ख़राब हो तो चिन्ताओं ही की क्या बात है, कोई भी पास नहीं फटकता। अब देश के दूसरे खाद्य व पेय पदार्थों पर नज़र डालिए। मिर्चें खाने का एक आसानी से समझ में आने वाला लाभ यह है कि उनसे हमारे प्राच्य खानों का मूल रंग और स्वाद दब जाता है। गाऊ-ज़बान का ख़मीरा[2] इसलिए खाते हैं कि बिना राशन कार्ड के शक्कर हासिल करने का यही एक जाइज़ तरीक़ा है। जोशांदा इसलिए गवारा है कि इससे न सिर्फ़ एक राष्ट्रीय उद्योग को बढ़ावा मिलता है बल्कि वासना-मूलक प्रवृत्तियों को मारने में भी मदद मिलती है। शलजम इसलिए ज़हर मार करते हैं कि उनमें विटामिन होता है। लेकिन आधुनिक चिकित्सा रिसर्च ने साबित कर दिया है कि कॉफ़ी में सिवाए कॉफ़ी के कुछ नहीं होता। गुणग्राहकों के नज़दीक यही उसकी ख़ूबी है।

मालूम नहीं कि कॉफ़ी की खोज क्यों, कब और किस मानव-उत्पीड़क ने की। लेकिन यह बात पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि यूनानियों को इसका ज्ञान नहीं था। अगर उन्हें ज़रा भी ज्ञान होता तो चिरायता की तरह यह भी यूनानी चिकित्सा पद्धति का मौलिक घटक होती। इस क़यास को इस बात से और भी शक्ति मिलती है कि क़स्बों में कॉफ़ी की बढ़ती हुई खपत की शायद एक वजह यह भी है कि नीम-हकीमों ने "अल्लाह शाफ़ी अल्लाह काफ़ी" कह कर उत्तरोल्लिखित का चूर्ण अपने नुस्ख़ों में लिखना शुरू कर दिया है। प्राचीन काल में इस प्रकार की जड़ी-बूटियों का प्रयोग दुश्मनी और दूसरी शादी के लिए रिज़र्व था। चूँकि आजकल इन दोनों बातों को बुरा माना जाता है, इसलिए सिर्फ़ आपसी प्रेम जताने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

सुना है कि चाय के बाग़ बड़े सुन्दर होते हैं। यह बात यूँ भी सच मालूम होती है कि चाय अगर खेतों में पैदा होती तो एशियाई देशों में इतनी अधिकता से नहीं मिलती, बल्कि अनाज की तरह विदेशों से आयात की

---

[1] लुत्फ़-ए-मय तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद // हाय कमबख़्त तूने पी ही नहीं (दाग़ देहलवी);
लुत्फ़े-मय- शराब का मज़ा; ज़ाहिद- धर्मनिष्ठ व्यक्ति; उपदेशक । (अनु.)

[2] ख़मीरा: शीरे में मिलाकर या पकाकर बनी हुई औषधियाँ; गाऊ-ज़बान: एक प्रकार की बूटी जिसकी गज़ भर से ज़्यादा लम्बी डालियाँ ज़मीन पर बिछी होती हैं। इसके पत्ते खुरदरे और उनपर उभरे हुए निशान गाय की ज़बान जैसे होते हैं। (अनु.)

जाती। मेरा सामान्य-ज्ञान सीमित है मगर अनुमान यही कहता है कि कॉफ़ी भी ज़मीन ही से उगती होगी क्योंकि इसकी गिनती उन वरदानों में नहीं जो अल्लाह-ताला अपने नेक बंदों पर आसमान से सीधे उतारता है। फिर भी मेरी कल्पना-दृष्टि को किसी तौर यह विश्वास नहीं आता कि कॉफ़ी बाग़ों की पैदावार हो सकती है और अगर किसी देश के बाग़ों में यह चीज़ पैदा होती है तो अल्लाह जाने वहाँ के जंगलों में क्या उगता होगा। ऐसे रसिकजनों की कमी नहीं जिन्हें कॉफ़ी इस वजह से प्रिय है कि यह हमारे देश में पैदा नहीं होती। मुझसे पूछिए तो मुझे अपना देश इसीलिए और भी प्रिय है कि यहाँ कॉफ़ी पैदा नहीं होती।

मैं पेय-पदार्थों का पारखी नहीं हूँ। इसलिए पेय-पदार्थ के अच्छे या बुरे होने का अंदाज़ा उन प्रभाओं से लगाता हूँ जो इसे पीने के बाद प्रकट होते हैं। इस लिहाज़ से मैंने कॉफ़ी को शराब से कई दर्जा बदतर पाया। मैंने देखा है कि शराब पीकर गंभीर पुरुष बेहद अगंभीर गुफ़्तगु करने लगते हैं जो बेहद जानदार होती है। इसके विपरीत कॉफ़ी पीकर अगंभीर लोग अत्यंत गंभीर गुफ़्तगु करने की कोशिश करते हैं। मुझे गंभीरता से चिड़ नहीं बल्कि प्रेम है। इसीलिए मैं गंभीर आदमी का मसख़रापन बर्दाश्त कर लेता हूँ, मगर मसख़रे की गंभीरता का रवादार नहीं। शराब के नशे में लोग बिलावजह झूठ नहीं बोलते। कॉफ़ी पीकर लोग बिलावजह सच नहीं बोलते। शराब पीकर आदमी अपना ग़म औरों को दे देता है, मगर कॉफ़ी पीने वाले औरों के फ़र्ज़ी ग़म अपना लेते हैं। कॉफ़ी पीकर समर्थक भी विरोधी बन जाते हैं।

यहाँ मेरा मक़सद कॉफ़ी से अपनी विरक्ति जताना है। लेकिन अगर किसी सज्जन को ये सतरें शराब का विज्ञापन मालूम हों तो इसे मेरी भाषा अभिव्यक्ति अक्षमता का प्रमाण समझें। कॉफ़ी के पक्षधर अक्सर यह कहते हैं कि यह बेनशे की प्याली है। अगर मुश्किल से मान भी लें कि यही वस्तुस्थिति है और यह दावा सही है तो मुझे उनसे हार्दिक हमदर्दी है। मगर इतने कम दामों में भला वे और क्या चाहते हैं।

कॉफ़ी हाऊस की शाम का क्या कहना! वातावरण में हर तरफ़ मानसिक कोहरा छाया हुआ है। जिसको पूंजीपति वर्ग और छात्र सुर्ख़-सवेरा समझकर डरते और डराते हैं। हल्लेगुल्ले का यह हाल कि अपनी आवाज़ तक नहीं सुनाई देती और बार-बार दूसरों से पूछना पड़ता है कि मैंने क्या कहा। हर मेज़ पर ज्ञान-पिपासु कॉफ़ी पी रहे हैं। और सूर्योदय से लहंगा-चोली तक, या आम आदमियों और आमों की विशेषताओं पर दार्शनिक लहजे में बहस कर रहे हैं। देखते ही देखते कॉफ़ी अपना रंग लाती है और तमाम मानव जाति को एक बिरादरी समझने वाले थोड़ी देर बाद एक दूसरे की वलदियत के बारे में अपना संदेह सरल उर्दू में व्यक्त करने लगते हैं, जिससे बैरे मुकम्मल तौर पर सहमत होते हैं। लोग रूठकर उठ खड़े होते हैं। लेकिन यह सोचकर बैठ जाते हैं किः

अब तो घबराके यह कहते हैं कि घर जाऐंगे
घर में भी चैन न पाया तो किधर जाऐंगे[1]

---

[1] अब तो घबराके यह कहते हैं कि मर जाऐंगे // मरके भी चैन न पाया तो किधर जाऐंगे (शैख़ इब्राहीम जौक़)

कॉफ़ी पी-पीकर समाज को कोसने वाले एक इंटेलेक्चुअल ने मुझे बताया कि कॉफ़ी से दिल का कमल खिल जाता है और आदमी चहकने लगता है। मैं भी इस राय से सहमत हूँ। कोई माक़ूल आदमी यह तरल पदार्थ पीकर अपना मुँह नहीं बंद रख सकता। उनका यह दावा भी ग़लत नहीं मालूम होता कि कॉफ़ी पीने से बदन में चुस्ती आती है। जभी तो लोग दौड़-दौड़कर कॉफ़ी हाऊस जाते हैं और घंटों वहीं बैठे रहते हैं।

बहुत देर तक वे यह समझाने की कोशिश करते रहे कि कॉफ़ी अत्यंत आनंददायक पेय है और दिमाग़ को रोशन करती है। इसके सबूत में उन्होंने यह मिसाल दी कि "अभी कल ही का वाक़या है। मैं दफ़्तर से घर बेहद निढाल पहुँचा। बेगम मनोदशा की बड़ी पारखी हैं। फ़ौरन कॉफ़ी का टी-पॉट लाकर सामने रख दिया।"

मैं ज़रा चकराया, "फिर क्या हुआ", मैंने बड़ी जिज्ञासा से पूछा।

"मैंने दूध-दान से क्रीम निकाली", उन्होंने जवाब दिया।

मैंने पूछा, "शक्करदान में से क्या निकला?"

फ़रमाया, "शक्कर निकली, और क्या हाथी घोड़े निकलते।"

मुझे गुस्सा तो बहुत आया मगर कॉफ़ी का सा घूँट पीकर रह गया।

उम्दा कॉफ़ी बनाना भी कीमियागरी से कम नहीं। यह इसलिए कह रहा हूँ कि दोनों के बारे में यही सुनने में आया है कि बस एक आँच की कसर रह गई। हर एक कॉफ़ी हाऊस और ख़ानदान का एक ख़ास नुस्ख़ा होता है जो सीना-ब-सीना, हलक़-ब-हलक़ स्थानांतरित होता रहता है। पूर्वी अफ़्रीक़ा के उस अंग्रेज़ अफ़सर की व्यंजन-विधि तो सभी को मालूम है जिसकी कॉफ़ी की सारे ज़िले में धूम थी। एक दिन उसने एक बेहद औपचारिक दावत की जिसमें उसके हब्शी ख़ानसामाँ ने बहुत ही स्वादिष्ट कॉफ़ी बनाई। अंग्रेज़ ने हौसला-अफ़ज़ाई के वास्ते उसको प्रतिष्ठित मेहमानों के सामने तलब किया और कॉफ़ी बनाने की तर्कीब पूछी।

हब्शी ने जवाब दिया, "बहुत ही सरल तरीक़ा है। मैं बहुत सा खौलता हुआ पानी और दूध लेता हूँ। फिर उसमें कॉफ़ी मिलाकर दम करता हूँ।"

"लेकिन उसे मिलाते कैसे हो। बहुत महीन छनी होती है।"

"हुज़ूर के मोज़े में छानता हूँ।"

"क्या मतलब क्या तुम मेरे क़ीमती रेशमी मोज़े इस्तेमाल करते हो?" मालिक ने ग़ुस्से से पूछा।

ख़ानसामाँ सहम गया, "नहीं सरकार! मैं आपके साफ़ मोज़े कभी इस्तेमाल नहीं करता।"

सच कहता हूँ कि मैं कॉफ़ी की तेज़ी और तल्ख़ी से ज़रा नहीं घबराता। बचपन ही से यूनानी दवाओं का आदी रहा हूँ और बर्दाश्त की क्षमता इतनी बढ़ गई है कि कड़वी से कड़वी *गोलियाँ खा के बे-मज़ा न हुआ*[1]!

लेकिन कड़वाहट और मिठास के मिश्रण से जो संतुलित क़िवाम बनता है वह मेरी बर्दाश्त से बाहर है। मेरी अत्यंत असंतुलित तबीयत इस मीठे विष की ताब नहीं ला सकती। लेकिन दिक़्क़त यह आन पड़ती है कि मैं मेज़बान के आग्रह को दुश्मनी और वे मेरे इनकार को तकल्लुफ़ समझते हैं।

---

[1] कितने शीरीं हैं तेरे लब कि रक़ीब // गोलियाँ खा के बे-मज़ा न हुआ (मिर्ज़ा ग़ालिब)

शीरीं - मीठे ; लब- होंठ; रक़ीब- प्रतिद्वंदी प्रेमी

लिहाज़ा जब वे मेरे कप में शक्कर डालते समय शिष्टाचार के तौर पर पूछते हैं:

एक चमचा या दो?

तो मजबूरन यही अर्ज़ करता हूँ कि मेरे लिए शक्करदान में कॉफ़ी के दो चम्मच डाल दीजिए।

साफ़ ही क्यों न कह दूँ कि जहाँ तक खाद्य व पेय पदार्थों का सम्बन्ध है, मैं इन्द्रियों पर संयम का क़ायल नहीं। मैं यह फ़ौरी फ़ैसला ज़ेहन की बजाय ज़बान पर छोड़ना पसंद करता हूँ। पहली नज़र में जो प्रेम हो जाता है, उसमें आम तौर पर नीयत का फ़ितूर होता है। लेकिन खाने-पीने के मामले में मेरा यह नज़रिया है कि पहला ही लुक़मा या घूँट निर्णायक होता है। बेस्वाद खाने की आदत को स्वाद में तब्दील करने के लिए बड़ा पित्ता मारना पड़ता है। मगर मैं इस सिलसिले में बरसों मुँह और ज़बान की कड़वाहट गवारा करने का समर्थक नहीं, जबतक कि इसमें बीवी का आग्रह या गृहस्थी की मजबूरियाँ शामिल न हों। इसी आधार पर मैं हर कॉफ़ी पीने वाले को जन्नती समझता हूँ। मेरा ईमान है कि जो लोग उम्र भर हँसी-ख़ुशी यह अज़ाब झेलते रहे, उन पर दोज़ख़ और हमीम[i] हराम हैं।

कॉफ़ी अमरीका का राष्ट्रीय पेय पदार्थ है। मैं अब बहस में नहीं उलझना चाहता कि अमरीकी कल्चर कॉफ़ी के ज़ोर से फैला, या कॉफ़ी कल्चर के ज़ोर से प्रचलित हुई। यह बिल्कुल ऐसा सवाल है जैसे कोई बेअदब यह पूछ बैठे कि "गुबार-ए-ख़ातिर[ii]" चाय की वजह से लोकप्रिय हुई या चाय "गुबार-ए-ख़ातिर" के कारण। एक साहब ने मुझे लाजवाब करने की ख़ातिर यह दलील पेश की कि अमरीका में तो कॉफ़ी इस क़दर आम है कि जेल में भी पिलाई जाती है। अर्ज़ किया कि जब ख़ुद क़ैदी इसपर आपत्ति नहीं जताते तो हमें क्या पड़ी है कि वकालत करें। पाकिस्तानी जेलों में भी क़ैदियों के साथ यह सलूक किया जाये तो अपराध की रोक-थाम में काफ़ी मदद मिलेगी। फिर उन्होंने बताया कि वहाँ ला-इलाज मरीज़ों को ख़ुश और स्वस्थ रखने की ग़रज़ से कॉफ़ी पिलाई जाती है। कॉफ़ी के शीघ्र-प्रभावकारी होने में क्या शक है। मेरा विचार है कि मौत की घड़ी में हलक़ में पानी चुआने की बजाय कॉफ़ी के दो-चार क़तरे टपका दिए जाएँ तो मरीज़ का दम आसानी से निकल जाये। बख़ुदा, मुझे तो इस प्रस्ताव पर भी कोई आपत्ति न होगी कि गुनाहगारों की फ़ातिहा[iii] कॉफ़ी पर दिलाई जाये।

सुना है कि कुछ सहिष्णु अफ़्रीक़ी क़बीले खाने के मामले में जानवर और इंसान के गोश्त को बराबर का दर्जा देते थे। लेकिन जहाँ तक पीने की चीज़ों का ताल्लुक़ है, हमने उनके बारे में कोई बुरी बात नहीं सुनी। मगर हम तो चीनियों की रची हुई, घ्राण-इन्द्रिय की दाद देते हैं कि न मंगोल शासकों का अत्याचार और हिंसा

---

[i] हमीमः (जहन्नुम का) खौलता पानी

[ii] गुबार-ए-ख़ातिर : मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की रचना जो उन्होंने ने 1942 में अहमदनगर जेल में लिखी थी. यह ख़त शैली में ललित निबंधों का संग्रह है. इसके एक निबंध में मौलाना ने चाय पीने के अपने अंदाज़ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो बेहद दिलचस्प है।

[iii] फ़ातिहा दिलानाः मृतक की रूह को सवाब (पुण्य) पहुँचाने के लिए इकठ्ठा होकर क़ुरान पढ़ना और ग़रीबों और रिश्तेदारों को खाना खिलाना और बाँटना। (अनु.)

उन्हें पनीर खाने पर मजबूर कर सकी और न अमरीका उन्हें कॉफ़ी पीने पर आमादा कर सका। इतिहास गवाह है कि उनकी नफ़ासत ने सख़्त भुखमरी के ज़माने में भी फ़ाक़े (उपवास) और अपने फ़लसफ़े को पनीर और कॉफ़ी पर तरजीह दी।

हमारी मंशा अमरीकी या चीनी आदतों पर नुक्ताचीनी नहीं। हर आज़ाद देश का यह मौलिक अधिकार है कि वह अपने मुँह और पेट के साथ जैसा सलूक चाहे, बे रोक-टोक करे। इसके अलावा जब दूसरे देश हमारे रसावल[1], निहारी और फ़ालूदे का मज़ाक़ नहीं उड़ाते तो हम उनके मामलात में टाँगें अड़ाने वाले कौन? बात दरअसल यह है कि विकसित देशों में प्यास बुझाने के लिए पानी के अलावा हर तरल वस्तु इस्तेमाल होती है। सुना है कि जर्मनी (जहाँ राष्ट्रीय पेयपदार्थ बियर है) डॉक्टर मजबूरी की स्थिति में बहुत ही हट्टे-कट्टे लोगों को शुद्ध पानी पीने की अनुमति देते हैं, लेकिन जिनको आबनोशी (जल-सेवन) का चस्का लग जाता है, वे रातों को छुप-छुपकर पानी पीते हैं। एक ज़माना था कि पैरिस के कैफ़ों में रंगीन मिज़ाज कलाकार बूर्ज्वा वर्ग को चिढ़ाने के उद्देश्य से खुल्लम-खुल्ला पानी पिया करते थे।

पूर्वी और पश्चिमी पेय-पदार्थों की तुलना करने से पहले यह बुनियादी सिद्धांत ज़ेहन में रख लेना बेहद ज़रूरी है कि हमारे यहाँ पीने की चीज़ों में खाने की विशेषताएँ होती हैं। अपने प्राचीन पेय-पदार्थ मसलन यख़नी, सत्तू और फ़ालूदे पर नज़र डालिए तो यह अंतर स्पष्ट हो जाता है। सत्तू और फ़ालूदे को शुद्ध शाब्दिक अर्थों में आप न खा सकते हैं और न पी सकते हैं। बल्कि अगर दुनिया में कोई ऐसी वस्तु है जिसे आप मुहावरेदार उर्दू में एक ही वक़्त में खा और पी सकते हैं तो यही सत्तू और फ़ालूदा है जो ठोस भोजन और ठंडे शर्बत के बीच अनिर्वचनीय समझौता है, लेकिन आजकल इन पेय पदार्थों का प्रयोग ख़ास-ख़ास समारोहों में ही किया जाता है। इसका सबब यह है कि अब हमने दुश्मनी निकालने का एक और सभ्य तरीक़ा अपनाया है।

आपके मन में ख़ुदा-न-ख़ास्ता यह संदेह न पैदा हो गया हो कि प्रस्तुत लेखक कॉफ़ी के मुक़ाबले में चाय का तरफ़दार है, तो निबंध ख़त्म करने से पहले यह ग़लतफ़हमी दूर करना बेहद ज़रूरी समझता हूँ। मैं कॉफ़ी से इसलिए विमुख नहीं हूँ कि मुझे चाय प्रिय है बल्कि हक़ीक़त यह है कि कॉफ़ी का जला चाय भी फूँक-फूँककर पीता है:

एक हम हैं कि हुए ऐसे पशेमान कि बस
एक वो हैं कि जिन्हें चाय के अरमाँ होंगे[2]।

**(चिराग़ तले से)**

---

[1] रसावल: ऊख के रस में सूखे मेवों के साथ देर तक पकाया हुआ चावल (अनु.)

[2] (पैरोडी) एक हम हैं कि हुए ऐसे पशेमान कि बस // एक वो हैं कि जिन्हें चाह के अरमाँ होंगे
अर्थात 'एक हम हैं कि मुहब्बत करके शर्मिंदा हैं और एक वह (माशूक़) हैं जो चाहते होंगे कि उन्हें और चाहा जाए। (अनु.)